



सदनलाल सावलदास खन्ना महिला महाविद्यालय संघटक महाविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

नैक द्वारा 'ए' ग्रेड प्राप्त

179 - डी, अतरसूरैया, प्रयागराज, उ. प्र. 211003



Vol. 6, Year 2026

Dharohar

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व
विभाग

भारतीय विरासत

प्रधान सम्पादक:

प्राचार्या

प्रोफेसर लालिमा सिंह

आई.क्यू.ए.सी. समन्वयक

प्रोफेसर मंजरी

सम्पादक :

प्रोफेसर मीनू अग्रवाल

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व
विभाग,

विभागीय सम्पादन सदस्य:

प्रोफेसर रीतू जायसवाल

डा. निशि सेठ

डा. प्रियंका गुप्ता

दीप्ति तिवारी, शोध छात्रा,

मोनिका निषाद, शोध छात्रा,

सत्यम यादव, शोध छात्र,

आएशा, शोध छात्र

आशुतोष द्विवेदी, शोध छात्र,

प्रमोद कुमार रजक, शोध छात्र

प्राचार्या की कलम से : भारत सांस्कृतिक विविधताओं का देश है, इसी विविधताओं में भारत की विविध सांस्कृतिक धरोहरों की भी झलक देखने को मिलती है। आज की युवा पीढ़ी के सबल कंधों पर इन धरोहरों को संरक्षित करने की महती जिम्मेदारी है, इसी विषय को केंद्र में रखते हुए इस वर्ष विश्व धरोहर दिवस का विषय 'संघर्षों और आपदाओं के सन्दर्भ में जीवंत विरासत के लिए आपातकालीन प्रतिक्रिया' रखा गया है। विश्व धरोहर दिवस पर एस. एस. खन्ना महिला महाविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग द्वारा प्रतिवर्ष युवा पीढ़ी को केंद्र में रखते हुए भारत के ऐतिहासिक धरोहरों के प्रति सचेतना पैदा करने के लिए, विशिष्ट आलेखों का प्रकाशन ई-बुलेटिन के माध्यम से निरंतर किया जा रहा है। जिसमें विषय-विशेषज्ञों के आलेखों के साथ ही ऐतिहासिक धरोहरों के प्रति जिज्ञासा रखने वाले जिज्ञासुओं, शोधार्थियों एवं विद्यार्थियों के लेखों को भी आमंत्रित किया जाता है। ऐतिहासिक विरासत को संरक्षित करने के इस प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए संपूर्ण संपादक मंडल को शुभकामनाएं।

ई बुलेटिन में प्रकाशित लेखों में अभिव्यक्त एवं संकलित विचार, तथ्य, विवरण, चित्र आदि लेखकों द्वारा संग्रहीत एवं प्रस्तुत हैं। सम्पादक/सम्पादक मंडल/महा विद्यालय किसी भी अंश/विचार/चित्र/विवरण के लिए उत्तरदायी नहीं होगा।

सम्पादकीय

प्राचीन इतिहास विभाग द्वारा प्रतिवर्ष विश्व विरासत दिवस के उपलक्ष्य में डिजिटल रूप में ई बुलेटिन धरोहर का प्रकाशन विगत 5 वर्षों से अनवरत किया जा रहा है। यह धरोहर का छठा अंक है। संस्कृति और सांस्कृतिक विरासत देश की पहचान होते हैं, अतीत की परम्पराओं, गौरव गाथाओं को सहेजे विरासत के उदाहरण भविष्य की इमारतों में नींव के पत्थर की तरह आधार और दृढ़ता प्रदान करते हैं।।

नई पीढ़ी में भारतीय ज्ञान, संस्कृति और विरासत के प्रति अनुप्रेरणा इस प्रकाशन का उद्देश्य है। इस कार्य में प्राचार्या की प्रेरणा, महाविद्यालय परिवार के सम्मानित सदस्यों, का अनुग्रह, आईक्यूएसी के माध्यम से गुणवत्तापूर्ण शिक्षाके लिए सतत प्रयास और इतिहास में रूचि रखने वाले विशिष्ट विद्वानों के आलेखों, शोध छात्रों के सहयोग ने धरोहर ई बुलेटिन के प्रकाशन को सरल बनाया। गुरुजनों का आशीर्वाद, शुभेच्छुओं की मंगलकामनाएं और स्वजनों का सहयोग इस साधना का उद्घोष बन कर हर कठिनाईयों का सामना करना की ताकत देती रही।

इस अंक में प्रोफेसर (मेजर) विमलेश कुमार पाण्डेय प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सल्तनत बहादुर पी.जी. कॉलेज बदलापुर, जौनपुर, प्रो. आर. एन. विश्वकर्मा, राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़, डॉ विवेक शुक्ल, पुरान्वेषण एवं उत्खनन अधिकारी, पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान, जयपुर, डॉ. धनंजय चोपड़ा वरिष्ठ पत्रकार व प्रभारी, सेन्टर ऑफ मीडिया स्टडीज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय जैसे वरिष्ठ विद्वानों ने सहज ही मेरे निवेदन को स्वीकार कर अपने आलेख भेजे, हम आपके आभारी हैं। आपके आलेख निश्चय ही शोधार्थियों का मार्गदर्शन करेंगे। धरोहर ऐसे ही देश की संस्कृति, विरासत, कला, परम्परा, विचार, ज्ञान को सहेजती जीवन्त रहे, इन्हीं मंगलकामनाओं के साथ,

प्रोफेसर मीनू अग्रवाल

Dharohar

Vol. 6, Year 2026



इस अंक में :

- असाधारण सैन्य प्रणाली और रणनीति के प्रतीक मराठा सैन्य परिदृश्य प्रोफेसर मंजरी शुक्ला आई.क्यू.ए.सी समन्वयक, एस.एस. खन्ना महिला महाविद्यालय, प्रयागराज
- डिहवा की अप्रकाशित प्रतिमाएं प्रोफेसर (मेजर) विमलेश कुमार पाण्डेय प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सल्तनत बहादुर पी.जी. कॉलेज बदलापुर, जौनपुर
- मेंढक मंदिर: तंत्र और वास्तुकला का अद्वितीय संगम, नीरज वर्मा, शोधार्थी प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.
- गुरुधाम मंदिर, वाराणसी डा. वन्दना, रिसर्च असिस्टेंट, वाराणसी
- निबियाखेड़ा का ईंट मंदिर : एक अल्प चर्चित अमूल्य धरोहर आयुष गुप्ता, शोधार्थी प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज,
- विष्णु का विशिष्ट गण्डभेरुण्ड पक्षी अवतार प्रो. आर. एन. विश्वकर्मा, राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़,
- डोकरा कलार: परंपरा, प्रौद्योगिकी और सांस्कृतिक अर्थवत्ता का एक अंतर्विषयी विश्लेषण डॉ विनीता मिश्रा ,असिस्टेंट प्रोफेसर,आधुनिक कालीन इतिहास विभाग
- प्रयागराज की हस्त शिल्प परम्परा: मुंज उत्पादए, डॉ रश्मि सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग
- मूर्ति.विज्ञान और दक्षिणामूर्ति, डा. मीनाक्षी जोशी, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
- जोधपुरा उत्खनन: एक पुनरालोकन.डॉ विवेक शुक्ल, पुरान्वेषण एवं उत्खनन अधिकारी, पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थानए जयपुर
- अप्रतिम है विरासत में मिली प्रयाग पत्रकारिता. डॉ. धनंजय चोपड़ा वरिष्ठ पत्रकार व प्रभारी, सेन्टर ऑफ मीडिया स्टडीज इलाहाबाद विश्वविद्यालय
- 'भावप्रकाश निघण्टु' में जल का महत्व. आशुतोष द्विवेदी

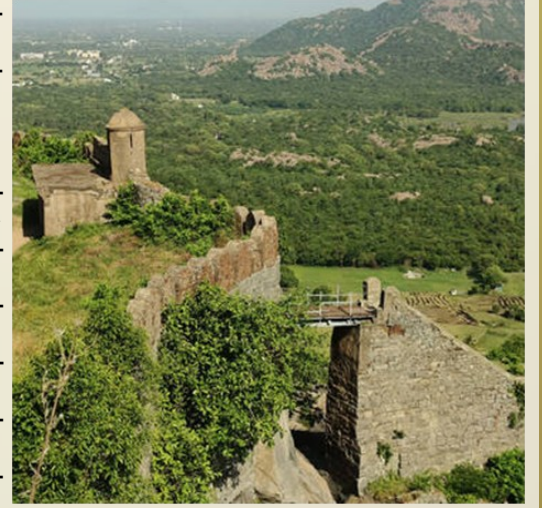
असाधारण सैन्य प्रणाली और रणनीति के प्रतीक मराठा सैन्य परिदृश्य

प्रोफेसर मंजरी शुक्ला
आई.क्यू.ए.सी, समन्वयक,
एस.एस. खन्ना महिला महाविद्यालय,

महाराष्ट्र और तमिलनाडु के 12 किलों का नेटवर्क मराठा सैन्य परिदृश्य जुलाई 2025 में यूनेस्को विश्व धरोहर सूची में शामिल किया गया है। यह भारत के सांस्कृतिक और सामरिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अप्रैल 2026 तक भारत में कुल 44 यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल हैं, जिसमें छत्तीस सांस्कृतिक, सात प्राकृतिक और एक मिश्रित स्थल शामिल है। सांस्कृतिक विरासत अर्थात् स्मारक (स्थापत्य कला), स्मारकीय मूर्तियां या शिलालेख, भवनों के समूह और स्थल (पुरातत्व स्थल सहित) शामिल हैं। प्राकृतिक विरासत का आशय भौतिक और जैविक संरचनाओं से युक्त भू क्षेत्र और भौतिक भौगोलिक संरचनाएं (पशुओं और पौधों की लुप्तप्राय प्रजातियों के आवास सहित) और विज्ञान संरक्षण या प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्राकृतिक स्थल से है। दुनिया में ऐतिहासिक इमारतों, सांस्कृतिक स्थलों और प्राकृतिक स्थानों को संरक्षित करने के उद्देश्य से ऐसे स्थानों को चिह्नित करने का कार्य 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्था UNESCO के माध्यम से प्रारम्भ किया गया। संरक्षण का उद्देश्य शिक्षा और शांति के संदेश को व्यापक बनाना था।

“मराठा सैन्य परिदृश्य” सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य मराठा शासकों द्वारा निर्मित और विकसित किलों का परिदृश्य है। इनमें कुल बारह किले शामिल है, जिनमें ग्यारह किले महाराष्ट्र के साल्हेर, शिवनेरी, लोहागढ़, रायगढ़, राजगढ़, प्रतापगढ़ सुवर्ण दुर्ग, पन्हाला, बिजयं दुर्ग, सिंधुदुर्ग और खंडेरी में स्थित है। जबकि एक किला जो जिंजी किला के नाम से जाना जाता है, तमिलनाडु में स्थित है। यह किले मुख्य रूप से पहाड़ी और समुद्री क्षेत्र में हैं जिन्हें रक्षात्मक और आक्रामक दोनों अभियानों की दृष्टि से विकसित किया गया था। यह किले मराठों द्वारा, मुगलों और यूरोपीय शक्तियों के खिलाफ संघर्ष और उनकी स्थापत्य कला के उत्कृष्ट प्रतीक हैं।

मराठा साम्राज्य सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में सर्वाधिक अनुशासित और सुव्यवस्थित सैन्य प्रशासन था। उनके द्वारा स्थापित गनीमी कावा (एकतरह का छापामार गुरिल्ला युद्ध) और मज़बूत नौसैनिक शक्ति के केन्द्र के रूप में इन किलों की पहचान है। इन किलों के कारण मराठों का कोंकण तट और व्यापारिक मार्गों पर मज़बूत नियंत्रण बना रहा। मराठा सैन्य परिदृश्य के किलों का यह नेटवर्क न केवल मराठा शासकों के सैन्य और वास्तुकला को दर्शाता है बल्कि उस समय के भू राजनैतिक परिदृश्य में उनकी तकनीकी और सामरिक श्रेष्ठता का भी प्रमाण है।



सांस्कृतिक और प्राकृतिक धरोहर को नष्ट होने से बचाना राष्ट्रीय गौरव को अगली पीढ़ी को हस्तांतरित करने के साथ ही इतिहास और विरासत पर शोध और पर्यटन को बढ़ावा देकर शैक्षिक गुणवत्ता की ओर कदम बढ़ाना है। महाविद्यालय का प्राचीन इतिहास विभाग यह कार्य करते हुए बधाई का पात्र है।

शुभकामनाओं सहित,
प्रोफेसर मंजरी शुक्ला
आई.क्यू.ए.सी
समन्वयक,



डिहवा की अप्रकाशित प्रतिमाएं

प्रोफेसर (मेजर) विमलेश कुमार पाण्डेय, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग सल्तनत बहादुर पी.जी. कॉलेज बदलापुर, जौनपुर

शोध सार : अपनी अनूठी उपरी गंगा घाटी की प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक विशिष्टता हेतु विश्व विश्रुत प्रतापगढ़ जनपद की ऐतिहासिक एवं प्रारम्भिक मध्ययुगीन सांस्कृतिक स्तरीकरण की अविच्छिन्नता किसी भी दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। किन्तु इस परिक्षेत्र में विकसित मानव जीवन के ऐतिहासिक निर्माण हेतु ग्रामीण अंचलों में प्रकीर्ण प्रस्तर एवं मृन्मूर्तियों, भग्न मन्दिरों कोट एवं टीलों के प्रति इतिहासकारों, पुराविदों में उपेक्षा भाव ही रहा। जनपद में लगभग हर 15-20 किमी. पर कोई न कोई स्थल अवश्य मिल जायेगा जो अपनी कोड में इतिहास/पुरातत्व के किसी न किसी पक्ष को आधार प्रदान करने वाली पुरासम्पदा को समेटे हुए हैं। स्पष्ट है कि क्षेत्रीय इतिहास के अध्ययन के अभाव में राष्ट्रीय इतिहास किमपि सम्पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। प्रस्तुत शोध पत्र में ऐसे ही एक अल्पज्ञात पुरास्थल 'डिहवा' की पुरासम्पदा का अनुशीलन किया गया है।

कुज्जिका शब्द: डिहवा, कोड, सांस्कृतिक स्तरीकरण ऊपरी गंगाघाटी, मुखर्लिंग, स्थानक, त्रिभंग मुद्रा, पाद-परिकर, द्वार शाखा

जेठवारा-मोहनगंज सड़क मार्ग पर नौबस्ता चौराहे से लगभग 2 कमी. पूर्व डिहवा गाँव स्थित है। वर्तमान आबादी इसी पुरास्थल पर आवासित है जिसका क्षेत्रफल लगभग 200²100 मी. है। सम्भवतः आस-पास के धरातल से ऊँचा होने के कारण इसका डिहवा (डीहा अथवा डीह) नाम पड़ा है। पुरास्थल एवं प्राचीन शुष्क झील के किनारे है जिसे कृषि कार्य हेतु समतल कर दिया गया है। यहाँ से लाल रंग को मृत्पात्र खण्ड मिले हैं। यह पुरास्थल उत्खनित पुरास्थल सराय नाहर राय, खुइला नेवारी एवं खण्डवा खास तथा पण्डवासी के समीप है।¹ सराय नाहर राय मध्यपाषाणिक संस्कृति के रहस्योद्घाटन हेतु सुविख्यात है।² खुइला नेवारी पुरास्थल 500 मी. क्षेत्र में प्रसारित 2 मीटर ऊँचे टीले के रूप में है। यह भी एक झील के किनारे है जिसके पूर्वी छोर पर प्रसिद्ध खुइलन देवी का प्राचीन मन्दिर है। यहाँ से उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा की संस्कृति के अन्तिम चरण से लेकर मध्यकाल तक के मृदभाण्ड प्राप्त हुए हैं।³ खण्डवा खास से 44²28²6 सेमी की इष्टिकाएं 500 मी. परिक्षेत्र में प्रसरित टीले से प्राप्त होती हैं। विविध पात्र परम्परा के पात्र खण्ड, खिलौने, हड्डियां तथा गढ़ियाँ प्राप्त हुई हैं। 135²81²21 सेमी. की बलुए पत्थर पर स्थानक विष्णु की दशावतार प्रतिमा, 35²33²25 स्थानक देवी प्रतिमा के अतिरिक्त खण्डित प्रस्तर प्रतिमाओं के छोटे-छोटे खण्ड उल्लेखनीय हैं।⁴ पण्डवासी पाण्डवों से सम्बंधित माना जाती है।⁵ स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार प्राचीनकाल में निर्मित मन्दिर को ध्वंस कर प्रतिमाओं को खण्डित कर

अतंस्ततः फेंक दिया गया था जिन्हें एकत्रित

कर लोगों ने पूजा करना प्रारम्भ किया। डिहवा प्रतिमाओं का परिचय निम्नलिखित है-

मुखर्लिंग-सम्भवतः प्रतिहार युगीन बलुए पत्थर पर निर्मित इस प्रतिमा (शिव) के गले में हार एवं कानों में कुण्डल प्रदर्शित है। शीर्ष भाग जटाधारी है। (चि.फ.सं. - 01)

सरस्वती प्रतिमा खण्ड : यह प्रतिमा खण्ड सम्भवतः सरस्वती देवी का है जिसका अर्द्ध भाग खण्डित है। प्रतिमा में सरस्वती को अर्द्ध पर्यङ्क मुद्र में आसनस्थ उत्कीर्ण किया गया है। प्रतिमा के वाम ळस्त में पुस्तक के अंकन से यह वाग्देवी सरस्वती प्रतिभासित होती है। प्रतिमा के पाद पर स्त्री पूजकों का नमस्कार मुद्रा में अंकन है।



खण्डित वीणा द्रष्टव्य है। प्रतिमा संभवतः 11वीं-12वीं शताब्दी की अनुमित होती है (चि.फ. सं. 2)



डिहवा की अप्रकाशित प्रतिमाएं



सूर्य : इस प्रतिमा में सूर्य को समभंग मुद्रा में दर्शित किया गया है। इसके बाएं हाथ में सनाल पद्म प्रदर्शित है जबकि दायां हाथ भग्न है, जिसमें भी सनाल पद्म ही अंकित रहा होगा। (चि.फ.सं. 3) सूर्य की दायें पत्नियों को उनके दोनों और तथा पिंगल को दोनों पैरों के मध्य नीचे प्रदर्शित किया गया है।



देव प्रतिमा : गले में हार कटि मेखलाधारी यह देव प्रतिमा त्रिभंग मुद्रा में है। प्रतिमा के अत्यधिक क्षरित हो जाने के कारण देवता का अभिज्ञान दुस्कर है। प्रतिमा के पाद एवं परिकर पर पूजकों एवं स्त्री-पुरुष प्रतिमाओं को दर्शित किया गया है। (चि.फ.सं. 4) प्रतिमा के दोनों हाथ खण्डित है।



नागदेवी प्रतिमा : वस्त्राभरण भूषिता इस प्रतिमा में देवी के शीर्ष एवं नेपथ्य में सर्प का अंकन किया गया है। (चि.



फ.सं. 5)

देवी प्रतिमा : स्थानक खण्डित प्रतिमा का शीर्ष भाग नहीं है किन्तु गले में मणिमाला है। मुक्ता माल गले से होकर देवी के दोनों उन्नत कुचों पर प्रदर्शित किया गया है। कटि प्रदेश पर कमरधनी का अंकन है। (चि.फ.सं.



6)

नदी प्रतिमा : इस प्रतिमा में देवी (गंगा) को त्रिभंग मुद्रा में कलश धारिणी प्रदर्शित किया गया है। (चि.फ.सं. 7) गले में मुक्ताहार तथा मणिमाला का अंकन है जो देवी के गले से होकर कुचों तक कटकर रहा है। कानों में कुण्डल हाथों में कंगन तथा बांह में बाजूबन्द तथा कटि में कमरधनी द्रष्टव्य है। दो भुजी देवी अपने बाएं हाथ में कलश लिए हैं जबकि उनका दाहिना हाथ कमर से नीचे उरु पर प्रदर्शित है जिसका अंगूठा कमरधनी को संस्पर्शित कर



उक्त के अतिरिक्त द्वारशाखा में बटुक भैरव (चि.फ.सं. 8), सरस्वती (चि.फ.सं. 9) तथा सप्तमातृका पट्ट है जिनकी गोद में शिशु का अंकन है (चि. फ.सं. 10) डिहवा के उक्त पुरावशेषों के आलोक में कहा जा सकता है कि यह स्थल धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था तथा सभी



पौराणिक धर्मों की सह प्रतिष्ठा यहाँ विद्यमान थी।

कृमषः अगले पृष्ठ पर

डिहवा की अप्रकाशित प्रतिमाएं

खण्डवा खास की विष्णु प्रतिमा : प्रतापगढ़ मुख्यालय से लगभग 15 किमी. पश्चिम कुण्डा-प्रतापगढ़ मार्ग पर स्थित आनादेव बाजार से लगभग तीन किमी. दक्षिण अवस्थित यह पुरास्थल 500 मी. परिक्षेत्र में प्रसरित है। अधिकांश भू-भाग पर लोगों ने आवास बना लिए हैं, शेष भाग कृषि कार्य हेतु प्रयुक्त किया जा रहा है। इसके बावजूद भी टीके का कुछ विस्तृत



अंश अद्यावधि खाली पड़ा हुआ है जिसके ऊपर यत्र तत्र प्रचुर मात्रा में प्रकीर्ण मृत्पात्रावशेष, छेने हुए मिट्टी के बेलन तथा मृण्मूर्तियों और खिलौनों के भग्नावशेष इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। गाँव के पूर्वी छोर पर स्थित चतुर्भुजी देवी (विष्णु) मन्दिर प्रांगण में कई भग्न प्रतिमाएं हैं। इनमें 135²81²27 सेमी बादामी रंग के पत्थर पर निर्मित चतुर्भुजी विष्णु की स्थानक दशावतार प्रतिमा है जिसका शीर्ष भाग नहीं है। प्रतिमा पर समुद्र मन्थन सहित विष्णु के दशावतारी अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रदर्शित किया गया है। विष्णु के शीर्ष भाग पर योग नारायण का अंकन है। प्रतिमा के दाएं एवं बाएं परिकर में शार्दूल तथा पैरों के दोनों ओर आयुध पुरुषों का अंकन है। मुख्य प्रतिमा का शीर्ष भाग, भुजाएँ तथा घुटने के नीचे का भाग खण्डित है। (चि.फ.सं. 11)

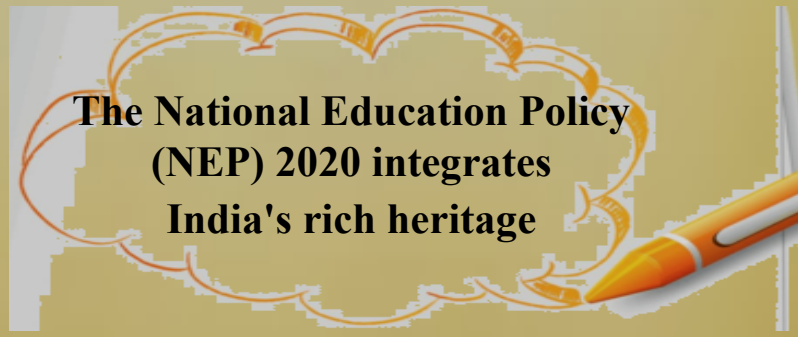
स्त्री देवी का खण्डित भाग : अज्ञात देवी का अष्टदल कमल पर पैर द्रष्टव्य है जिसमें पायल दर्शित है। (चि.फ.सं. 12) उक्त के अतिरिक्त यहां अनेक खण्डित प्रस्तर प्रतिमाओं के अवशेष रखे हैं। शैली एवं प्रतिमा लक्षणों के आधार पर अनुमित होता है कि उक्त प्रतिमाएं गुप्त युगीत हैं। ध्यातव्य है कि प्रतापगढ़ जनपद के अनेक स्थलों से विष्णु प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं।⁹ जिनसे अभिज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में वैष्णव धर्म का व्यापक प्रचलन था। इनमें से कृतिपय प्रतिमाओं के निर्माण में ऐसी उद्भावनाएं प्राप्त होती हैं, जिनका विवरण साहित्यिक ग्रन्थों अथवा प्रतिमा परक लक्षणों में नहीं मिलता।



सन्दर्भ

1. सिंह, आर.एल. (1991), इण्डिया : ए रीजनल ज्योग्राफी, पृष्ठ 184, 124
2. पाण्डेय, विमलेश कुमार (2017), प्रतापगढ़ का प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व, भूमिका
3. वही,
4. वही, पृ. 207
5. शर्मा, जी. आर. (1973), मेसोलिथिक लोक कल्चर्स इन द गंगा वैली, इण्डिया, प्रोसिडिंग्स ऑफ द प्री हिस्टारिक सोसाइटी 39, पृ. 129-146; इण्डियन आर्क्योलॉजी : ए रिव्यू-1968, पृ. 35; पाल, जे.एन. (1980), प्रतापगढ़ जनपद में पुरातात्विक, अन्वेषण, मानव, जिल्द-2-3, पृ. 119-130
6. पाल, जे.एन. (1980), प्रतापगढ़ जनपद में पुरातात्विक अन्वेषण, पृ. 127
7. पाण्डेय, विमलेश कुमार, वही, पृ. 209,
8. पाल, जे.एन.; वही,
9. शुक्ल, विमल चन्द (2008), भारतीय कला-नए सन्दर्भ नए विमर्श, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृ. 18; पाण्डेय, विमलेश कुमार, वही, पृ. 244-252





The National Education Policy (NEP) 2020 integrates India's rich heritage by embedding the Indian Knowledge System (IKS)—including tribal ethno-knowledge, Ayurveda, mathematics, and philosophy—across school and higher education curricula. It promotes multilingualism, values-based education, and experiential learning to foster pride in indigenous roots while encouraging modern scientific research

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी) 2020 भी भारत की समृद्ध विरासत को समाहित करने पर बल देती है, जिसमें जनजातीय जातीय ज्ञान, आयुर्वेद, गणित और दर्शन सहित भारतीय ज्ञान प्रणाली (आईकेएस) को विद्यालय और उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है। यह नीति बहुभाषावाद, मूल्यों पर आधारित शिक्षा और अनुभवात्मक अधिगम को बढ़ावा देती है, ताकि स्वदेशी जड़ों पर गर्व की भावना विकसित हो सके और साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान को भी प्रोत्साहन मिले।

मेंढक मंदिर: तंत्र और वास्तुकला का अद्वितीय संगम

नीरज वर्मा, शोधार्थी प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.



चित्र संख्या - 3 व 4

तांत्रिक साधना से संबंधित उत्कीर्ण मूर्तियां

भारत अपनी सम्पन्न सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत के लिए जाना जाता है, भारत के हर कोने में एक अनोखा स्थापत्य छिपा है। एक ऐसा ही रहस्यमय और अद्भुत स्थल स्थित है, उत्तर प्रदेश के लखीमपुर खीरी जिला के ओयल कस्बे में जिसे मेंढक मंदिर या 'मांडूक मंदिर' के नाम से जाना जाता है जो अपनी तरह का भारत का एकमात्र मंदिर है। यह मंदिर लखीमपुर-सीतापुर मार्ग पर लगभग 12 किलोमीटर दूर ओयल कस्बे में स्थित है।

मांडूक तंत्र नामक एक अद्वितीय तांत्रिक प्रणाली पर आधारित यह मंदिर भगवान शिव को समर्पित है, यहाँ भगवान शिव एक विशाल मेंढक की पीठ पर विराजमान हैं। यह न केवल एक पूजा स्थल है, बल्कि तांत्रिक वास्तुकला और प्राचीन मान्यताओं का एक जीवंत उदाहरण भी है। यह दर्शाता है कि भारतीय आध्यात्मिकता में प्रतीकवाद कितना गहरा और बहुस्तरीय हो सकता है,

मेंढक मंदिर का (अग्र भाग)



मेंढक मंदिर का (पश्च भाग)



जहाँ एक आकृति एक देवता का आधार या एक शक्तिशाली शुभंकर हो सकती है, जो किसी विशेष ऊर्जा या उद्देश्य का प्रतिनिधित्व करती है। मेंढक मंदिर में, मेंढक केवल एक आधार नहीं है, बल्कि एक सक्रिय प्रतीक है जो मंदिर की तांत्रिक ऊर्जा को बढ़ाता है, और इसके शुभ प्रभावों को प्रसारित करता है।

मांडूक तंत्र का उपयोग प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित करने और क्षेत्र में समृद्धि लाने के लिए किया गया था, जो राजा की दूरदर्शिता और तांत्रिक ज्ञान में उनके विश्वास को दर्शाता है। इसकी वास्तु परिकल्पना 'कपिला' नामक एक महान तांत्रिक ने की थी, जो पूर्वोत्तर भारत के एक राज्य मेघालय से आए थे। मंदिर के बाहरी दीवारों पर उत्कीर्ण 'शिव साधना' करती मूर्तियां इस

मंदिरके एक तांत्रिक मंदिर होने का प्रतीक हैं। कपिला जैसे तांत्रिक वास्तुकार का होना यह दर्शाता है कि मंदिर का निर्माण केवल इंजीनियरिंग का काम नहीं था, बल्कि एक पवित्र तांत्रिक अनुष्ठान था, जहाँ हर तत्व का अपना गूढ़ अर्थ था। 'शिव साधना' जैसी उत्कीर्ण मूर्तियां और अंदर के विचित्र चित्र मंदिर के गहरे तांत्रिक अभ्यास और ऊर्जा को इंगित करते हैं, जो इसे सामान्य शिव मंदिरों से अलग करती है और इसे तंत्र साधकों के लिए एक महत्वपूर्ण केंद्र बनाती है। यह मंदिर को एक सक्रिय तांत्रिक ऊर्जा क्षेत्र के रूप में स्थापित करता है, जहाँ हर पत्थर और हर आकृति किसी विशेष आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति करती है, जो मेंढक मंदिर को एक प्रार्थना स्थल से बढ़कर सामुदायिक कल्याण के लिए एक तांत्रिक उपकरण के रूप में स्थापित करता है।

मेंढकमंदिर में स्थापित शिवलिंग को नर्मदा नदी से लाया गया था और इसे 'नर्मदेश्वर महादेव' के नाम से जाना जाता है। इसकी सबसे खास बात यह है कि यह दिन में तीन बार (सुबह, दोपहर और शाम) अपना रंग बदलता है, जिसे भक्त भगवान का चमत्कार मानते हैं।

आमतौर पर शिव मंदिरों में भगवान भोलेनाथ के वाहन नंदी की मूर्ति बैठी मुद्रा में होती है, लेकिन मेंढक मंदिर में नंदी की मूर्ति खड़ी मुद्रा में है। यह विश्व में कहीं और देखने को नहीं मिलता जो मंदिर की एक अत्यंत दुर्लभ विशेषता है। मंदिर परिसर में एक कुआँ भी है, जिसकी खास बात यह है कि जमीन तल से ऊपर बने होने के बावजूद इसमें पानी जमीन तल पर ही मिलता है।

मेंढक मंदिर का इतिहास लगभग 200 से 300 साल पुराना है। उपलब्ध अधिकांश जानकारी के अनुसार, इसका निर्माण ओयल राज्य के पूर्व राजाओं द्वारा 1860 से 1870 के बीच कराया गया था। हालाँकि, कुछ पराने विवरणों में इसके निर्माण का समय 1755ई. भी बताया गया है। विशेष रूप से इसके निर्माण का श्रेय चाहमान वंश के राजा बख्श सिंह को दिया जाता है, और कुछ विवरणों के अनुसार, इसका निर्माण राजा अनिरुद्ध सिंह के समय में हुआ था। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस मंदिर का निर्माण ओयल के शाही परिवार के संरक्षण में हुआ था, जो अपने राज्य के कल्याण के लिए समर्पित थे और भगवान शिव के प्रबल उपासक थे। ओयल क्षेत्र 11वीं से 19वीं शताब्दी तक शैव संप्रदाय का एक प्रमुख केंद्र था। यह मंदिर उस समय की शैव परंपराओं और तांत्रिक साधना का एक जीवंत उदाहरण है। मंदिर के निर्माण का एक प्रमुख उद्देश्य सूखे और बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं से राज्य की रक्षा

करना था। राजा बख्श सिंह, जो भगवान शिव के एक महान भक्त थे, उन्हें नर्मदा नदी के पास ध्यान करते हुए एक शिवलिंग प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने तांत्रिक अनुष्ठानों की मदद से मेंढक मंदिर में स्थापित किया। इसके बाद, ऐसा माना जाता है कि पूरा क्षेत्र गन्ने और चावल की खेती से समृद्ध हो गया। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि मंदिर का निर्माण केवल आध्यात्मिक कारणों से नहीं, बल्कि एक व्यवहारिक आवश्यकता कृषि आधारित समाज की सुरक्षा के लिए किया गया था।

मेंढक मंदिर की वास्तुकला अपने आप में एक अनूठा चमत्कार है, जो इसे भारत के अन्य मंदिरों से अलग करती है। मंदिर का सबसे असाधारण पहलू इसका एक विशालकाय मेंढक की पीठ पर निर्मित होना है। मेंढक की आकृति पाषाण निर्मित है, जिसका मुख और अगले दो पैर उत्तर दिशा में हैं। मेंढक का मुख 2 मीटर लंबा, 1.5 मीटर चौड़ा और 1 मीटर ऊंचा है। इसके पिछले दो पैर दक्षिण दिशा में हैं। मेंढक के शरीर का आगे का भाग उठा हुआ और पीछे का भाग दबा हुआ है, जो एक वास्तविक मेंढक के बैठने की स्वाभाविक मुद्रा है। मंदिर के अग्र भाग में सबसे नीचे एक मगरमच्छ की आकृति है, जिसके ऊपर मेंढक और फिर उसके ऊपर मंदिर बना है। मगरमच्छ (जल के गहरे स्तरों का प्रतीक), मेंढक (भूमि और वर्षा के माध्यम से जीवन तथा समृद्धि का प्रतीक), और फिर शिव (सृष्टि, स्थिति और संहार के सर्वोच्च देवता) की यह त्रिस्तरीय संरचना केवल एक डिजाइन नहीं है, बल्कि गहन तांत्रिक प्रतीकात्मकता को दर्शाता है। यह संभवतः ब्रह्मांडीय ऊर्जा के उत्थान या

जल आधारित जीवन और समृद्धि पर नियंत्रण का प्रतिनिधित्व करती है, जो 'यंत्र' डिजाइन और 'मांडूक तंत्र' के सिद्धांतों के अनुरूप है, जहाँ प्रत्येक परत का अपना विशिष्ट आध्यात्मिक महत्व है। यह संरचना मंदिर को एक शक्तिशाली तांत्रिक केंद्र के रूप में स्थापित करती है, यहाँ प्राकृतिक तत्वों पर नियंत्रण के माध्यम से दैवीय कृपा प्राप्त की जाती है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि मेंढक मंदिर भारत की समृद्ध और विविध विरासत का एक प्रमाण है, जो न केवल भक्तों को आकर्षित करता बल्कि इतिहास प्रेमियों और वास्तुशिल्प के प्रति उत्साही लोगों के लिए भी एक आकर्षक गंतव्य है। इसके संरक्षण और व्यापक पहचान से इसकी अद्वितीय कहानी को और अधिक लोगों तक पहुँचाया जा



सकता है, जिससे मेंढक मंदिर एक 'छिपे हुए रत्न' से एक राष्ट्रीय खजाने के रूप में उभरे। यह मंदिर एक महत्वपूर्ण अनुस्मारक है, भारत के हर कोने में ऐसे अनमोल स्थल छिपे हैं जो अपनी कहानियों और चमत्कारों के साथ अन्वेषण की प्रतीक्षा कर रहे हैं।



Dr. Vandana Gupta
Research Assistant , ICSSR Re-
search Programme ,
S.S khanna Girl's Degree Col-
lege, Prayagraj



भारत की प्राचीनतम नगरी काशी में छोटे-बड़े मंदिरों को मिलाकर बहुसंख्यक मंदिर है, इसलिए इसे मंदिरों का शहर कहा जाता है। काशी में स्थित मंदिर केवल इसलिए नहीं जाने जाते कि वहां देशी और विदेशी दार्शनिक भारी संख्या में आते हैं बल्कि वह अपनी विशेष वास्तुशैली के लिए भी जाने जाते हैं। उसके साथ ही प्रत्येक मंदिर के निर्माण के पीछे अपना एक दर्शन भी छिपा है। उन्हीं में से एक है वाराणसी के भेलूपुर के निकट स्थित गुरुधाम मंदिर जो संभवत मिश्रित शैली में निर्मित है। इस मंदिर का निर्माण बंगाल के राजा जय नारायण घोषाल ने 1814 ईस्वी में करवाया था। महाराज जय नारायण घोषाल कलकत्ता के ईस्ट बैंक के पास खिदिरपुर के समीप उनकी जमींदारी थी। उन्होंने उलबेडिया और वाराणसी (तत्कालीन काशी) में एक जोड़ा मंदिर का निर्माण करवाया। काशी में गुरुधाम और उलबेडिया में हंसेश्वरी। भारत में प्रथम पांच श्रेणियों के मंदिर में इंगित युक्त सार्थक अर्थरूप प्रणाली हो तो

गुरुधाम एवं हंसेश्वरी उसके प्रमुख दो मंदिर है। वाराणसी के गुरुधाम मंदिर का अपना एक विशेष अर्थ है जिसमें गुरु के साथ लगे हुए धाम का अर्थ है आलोक। इसका पूर्ण अर्थ होता है ज्ञान का आलोक या ज्ञान का गृह जो अंधकार को दूर कर प्रकाश के चारों ओर विस्तारित करता है। और यह मंदिर योग साधना की भाव भूमि पर बना हुआ विशिष्ट मंदिर है। चूंकि 1814 ई. में यह मंदिर बना तत्कालीन समय में ब्रिटिश शासन था तो इसमें कहीं ना कहीं ऐसे तत्व मिलते हैं जिससे किंचित विदेशी प्रभाव भी नजर आता है। जैसे हम काशी द्वार पर ही देखे तो इसका पक्ष सिंह है। एवं पीछे चरण पादुका के ऊंचे स्तंभ दिखाई देंगे। लेकिन इस मंदिर को समग्र रूप से देखा जाए तो यह विशुद्ध रूप से भारतीय शैली में एवं योग साधना

की भाव भूमि से बना हुआ अपनी तरह का एक विशिष्ट मंदिर है। मंदिर परिसर 4.86 हेक्टेयर क्षेत्र में फैला है। यह मंदिर अपनी अष्टकोणीय (आठ कोनों वाली) वास्तुशैली के लिए प्रसिद्ध है, जिसमें आठ द्वार और आठ प्रांगण हैं। हर द्वार पर नक्काशी, प्रतीक, कमरों, बरामदों, गुंबदों और सीढ़ियों का गहरा सांस्कृतिक व दार्शनिक अर्थ है। मंदिर की बनावट तांत्रिक मंडल, ब्रह्मांड एवं योग तत्वों को दर्शाती है। ऐसे भी कहा जाता है कि इसकी वास्तुकला में बंगाल एवं मराठा शैली का अद्भुत संगम है।



इस मंदिर की संरचना अष्टकोणीय है। इसमें आठ प्रवेश द्वार हैं जो एक ही प्रांगण में आकर मिलते हैं। इसके सात द्वार सप्तपुरियों अर्थात् अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची, उज्जैन और पुरी के प्रतीक है। आठवां द्वार गुरु का है। ये आठ द्वार आठ दिशाओं का भी संकेत देते हैं। इसके प्रवेश पर अर्थात् काशी द्वार के बाद गुरु मंदिर है। इसके भूतल से ऊपर जाने के लिए कुंडलिनी की इडा पिंगली नाड़ियों की तरह सीढ़ी बनी हुई है। प्रथम तल पर जाने के बाद पुनः एक गर्भगृह है जो मूर्तिविहीन है। इसके ऊपर पुनः एक तल है जिसमें जाने का मार्ग नहीं बना हुआ है। संभवत यह योग साधना की चरम अवस्था



की प्रतीक रही होगी। पहली मंज़िल पर 32 पत्थर के स्तंभ हैं और यहाँ किसी भी प्रकार की मूर्ति स्थापित नहीं की गई है। दूसरी मंज़िल तक पहुँचने के लिए संकरी सीढ़ी है, जो कुंडलिनी शक्ति का प्रतीक है। तीसरी मंज़िल पर गोलाकार छत है, जिसे 'शून्य' या अंतरिक्ष का प्रतीक माना गया है। मंदिर के ही प्रथम तल से ही संलग्न एक मार्ग पीछे की तरफ चरण पादुका मंदिर की ओर ले जाता है, जहां

मंदिर के दोनों तरफ सात- सात छोटे-छोटे मंदिर बने हैं। जो आंशिक रूप से क्षतिग्रस्त है। मंदिर के निकट ही नारायण कुंड था जो मात्र जलाभिषेक का प्रतीक नहीं था बल्कि मन व मस्तिष्क को स्वच्छ रखने का प्रतीक था। अपनी अद्भुत अष्टकोणीय संरचना निर्माण के पीछे छिपी दार्शनिक उद्देश्यों के कारण यह मंदिर अत्यंत आकर्षित करता है जहां जाकर प्रदेश सैलानी के मन में इनके विषय में जिज्ञासा जरूर उत्पन्न हो जाती है।

यह मंदिर एक समय उपेक्षित रहा और अतिक्रमण की वजह से कई समस्याएँ आईं। परन्तु वर्ष 2013 में उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व विभाग द्वारा इसके जीर्णोद्धार की प्रक्रिया शुरू की गई जो कि 2016 में पूरी हुई। जिसमें पारंपरिक सामग्री जैसे गुड़, बेल, उड़द की दाल, सुरखी, और लाल बालू का उपयोग हुआ ताकि उसकी मौलिकता बनी रहे। हाल ही में इसे पर्यटन मानचित्र में भी शामिल किया गया है और यहां संस्कृति एवं कला से जुड़े कार्यक्रमों का आयोजन भी होता है।

संदर्भ

Singh, Rana P.B. 1994. Sacred Geometry of India's Holy City, Varanasi: Kashi as Cosmogram. National Geographical Journal of India.

Explore Varanasi Gurudham temple Jnana Pravah

Kashi.gov.in



निबियाखेड़ा का ईट मंदिर : एक अल्प चर्चित अमूल्य धरोहर

आयुष गुप्ता, शोधार्थी
प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.

प्राचीन भारतीय कला स्थापत्य के इतिहास में जब हम ईंटों से निर्मित मंदिर संरचनाओं की बात करते हैं तो कानपुर और उससे संबद्ध क्षेत्र का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। कानपुर परिक्षेत्र में ही दो ईट के मंदिर मिलते हैं, जिन्हें अक्सर एक ही मान लिया जाता है। परंतु दोनों भौगोलिक, संरचनात्मक व कालक्रम की दृष्टि से भिन्नता रखते हैं, दोनों की अपनी विशिष्टताएं हैं। यह दोनों मंदिर हैं— 'भीतरगांव' व 'निबियाखेड़ा' के मंदिर।

भीतरगांव का मंदिर लगभग पांचवीं शताब्दी ई. में गुप्त काल के भारत के सबसे पुराने जीवित ईंटों के मंदिरों में से है, जिसमें विशिष्ट मेहराब का प्रयोग शिखरमयी छत व टेराकोटा कलाकृतियां मिलती हैं। दीवारों पर गणेश, पार्वती व विष्णु की मूर्तियां मिलती हैं। परंतु यहां हम दूसरे अल्प चर्चित ईट मंदिर 'निबियाखेड़ा के ईट मंदिर' की बात करेंगे।

यह मंदिर कानपुर शहर से लगभग 45 किलोमीटर की दूरी पर घाटमपुर तहसील में निबियाखेड़ा गांव में स्थित है। मंदिर का निर्माण 9वीं शताब्दी के लगभग चंदेल राजाओं ने करवाया था, जो चंदेलकालीन ईट वास्तुकला का अद्भुत उदाहरण पेश करता है। मंदिर को इस क्षेत्र में प्रचलित ईट के संरचनात्मक मंदिर की सांतत्यता में भी देखा जा सकता है। नदियों के किनारे प्रचुर मात्रा में रेत व मिट्टी की उपलब्धता इसका कारण

रही होगी।

पूर्वोन्मुख यह मंदिर पंचायतन शैली का है, जिसमें चारों कोनों पर एक-एक लघु मंदिर स्थापित है क्योंकि यहां जगती का अधिष्ठापन नहीं है अतः मंदिर के वेदिबंध का ऊपरी भाग दृष्टव्य है। केंद्रीय मंदिर नागर मंदिर शैली की लेटिना शिखर का एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसकी सभी दीवारों पर केंद्रीय व पार्श्व उभार है। यह उभार पीछे हटते हुए मेहराबों से प्रचुर रूप से अलंकृत हैं।

वर्तमान में यह एक शिव मंदिर है। जो कि भद्रेश्वर महादेव के नाम से प्रचलित है। परंतु संभवतः पूर्व में यह एक वैष्णव मंदिर था, लालटबिंब के रूप में गज लक्ष्मी की मूर्ति का अंकन यह स्पष्ट करता है कि यह एक वैष्णव मंदिर था। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय यह मंदिर 'शिव मंदिर' में परिवर्तित हुआ होगा। प्राचीन व मध्यकालीन भारत में ऐसे परिवर्तन राजवंशों व संरक्षकों के धार्मिक झुकाव में बदलाव से भी होते थे। वर्तमान शिवलिंग लगभग 400 वर्ष पूर्व से यहां स्थापित माना

जाता है। यह

परिवर्तन क्षेत्रीय धार्मिक इतिहास के अध्ययन के लिए इसे विशिष्ट बनाता है।

चंदेल कालीन स्थापत्य कला में आमतौर पर गर्भगृह, मंडप, महामंडप व अर्धमंडप जैसी सं. रचनाएं होती हैं हालांकि यहां मंडप का मूल रूप नष्ट हो गया है। मंदिर का भीतरी भाग सादा है परंतु बाह्य भाग उत्कीर्ण की गई ईंटों से अलंकृत है। गर्भगृह की प्रस्तर निर्मित चौखट पर ललाटबिंब के रूप में गजलक्ष्मी सुशोभित हैं, जबकि द्वार शाखाओं के आधार में गंगा- यमुना का उत्कृष्ट अलंकरण है। मंदिर के प्रवेश द्वार के बरामदे के उभार में पार्श्व दीवारों पर आले है। चारों सहायक मंदिर शैली व निर्माण में समान लेकिन बिना छत के हैं और उनके प्रवेश द्वार त्रिकोणीय हैं।

निबियाखेड़ा का ईट मंदिर : एक अल्प चर्चित अमूल्य धरोहर

मंदिर के पास मेले का आयोजन और लगातार पूजन की सांतत्यता इसके धार्मिक व सांस्कृतिक महत्व को प्रतिबिंबित करती है।

मंदिर से जुड़ी किंवदंतियां इसके सांस्कृतिक आकर्षण को और बढ़ा देती

हैं,स्थानीय लोग कहते हैं कि, महाभारत काल में पांडवों ने भद्र रूप धारण कर भगवान महादेव की स्थापना की थी,जिसके कारण इसका नाम भद्रेश्वर पड़ा।

इस तरह यह मंदिर भारतीय स्थापत्य कला व भारत के गौरवशाली अतीत की अप्रतिम धरोहर है,जिसे भारतीय पुरा. तत्व सर्वेक्षण द्वारा 'राष्ट्रीय

महत्व' का भी घोषित किया गया है। वर्तमान में यह मंदिर लगातार धीरे-धीरे धंस रहा है व संरचना क्षतिग्रस्त हो रही है। ऐसे में इसके संरक्षण के लिए प्रयास आवश्यक हैं, साथ ही मंदिर के इतिहास व स्थापत्य पर और अधिक अकादमिक शोध व प्रकाशनों को किया जाना भी आवश्यक है जिससे इसे वृहद सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके और हम सभी अपने गौरवशाली इतिहास से और गहरे जुड़ सकें।



चित्र संख्या – 1 निबियाखेड़ा का ईट मंदिर (अग्र भाग)

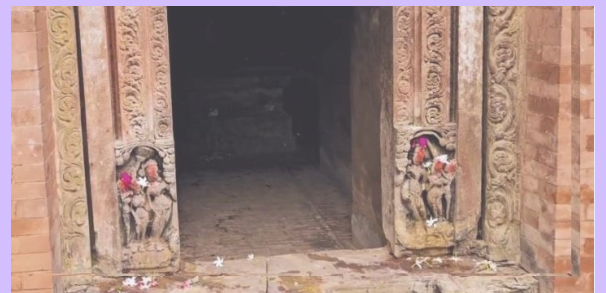


निबियाखेड़ा का ईट मंदिर (पश्च भाग)

प्रवेश द्वार के शीर्ष पर नवग्रह पट्ट और गजलक्ष्मी का अंकन



प्रवेश द्वार चौखट पर गंगा और यमुना का अंकन



पंचायतन शैली

विष्णु का विशिष्ट गण्डभेरुण्ड पक्षी अवतार

प्रो. आर. एन. विश्वकर्मा
ए/18, गंगा सदन, कुसुम नगर,
राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़,

चित्र 1, शरभेषावतार, धेनुपुरीश्वरार मंदिर,
मदम्बक्कम, चेन्नई।

चित्र 2, गण्डभेरुण्ड, बरुंडेश्वर शिव मंदिर,
बल्लीगेव, जिला सिमोगा, कर्नाटक।

चित्र 3, गण्डभेरुण्ड, बाराखम्बी मंदिर,
अम्बाजोगई, महाराष्ट्र।

चित्र 4, गण्डभेरुण्ड, रामेश्वरम मंदिर, केलाडी,
जिला सिमोगा, कर्नाटक।

यदा-यदा हि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।।
— भगवतगीता, 4/7/8।

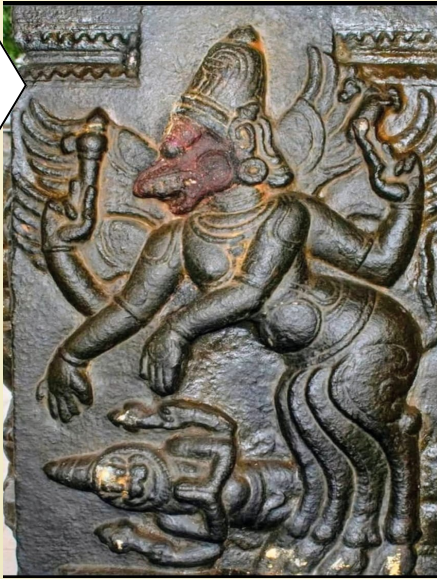
अर्थात् भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन
जब-जब इस धरा पर धर्म की हानि होती है और अधर्म की
वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं अवतरित होती हूँ। सज्जनों
की रक्षा करने, दुष्टों का विनाश करने और धर्म की फिर से
स्थापना करने के लिए, मैं हर युग में जन्म लेता हूँ।
ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) को प्राकृतिक
गुणों (सत-रज-तम) के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को सत,

पालनकर्ता विष्णु को रज एवं संहारकर्ता शिव को तमस का
प्रतीक माना गया है। पौराणिक युग में त्रिदेवों की मान्यता
के पीछे सृष्टि के उद्भव और प्रलय की बातों का विचार
किया गया था। देवता से ही स्फुरित होकर जगत, प्रलय
काल में उन्हीं में मिल जाता है। विष्णु के अवतारों की
संख्या पुराणों (महाभारत,¹हरिवंशपुराण, वायुपुराण,²
अग्निपुराण, भागवतपुराण,³ वराहपुराण एवं मत्स्यपुराण
आदि) में भिन्न-भिन्न दी गई है। कालान्तर में सर्वमान्य
प्रमुख दश अवतारों यथा- मत्स्य, कूर्म, नरसिंह, वराह,
वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि को कला में
प्रायः अंकन हुआ है। विष्णु के दशावतारों में चौथा नरसिंह
(नृसिंह) अवतार है। नरसिंह एक स्वतंत्र देवता प्रतीत होता
है, जिसकी एकता विष्णु से की गई है। बैबीलोनिया तथा
असीरिया में नृसिंह की पूजा प्रचलित थी। वहाँ की मूर्तियों
में पूरा शरीर सिंह का और मुख मनुष्य का है। किन्तु
भारत में नृसिंह मूर्ति का सिर सिंह का और पूरा शरीर
मनुष्य का है। कहा जाता है कि बालि, नृसिंह का उपासक
था। गुप्तकाल के बाद वैष्णव धर्म में एक पृथक सम्प्रदाय
बन गया था, जिसके मानने वाले अपने को नारसिंह कहते
थे।⁴

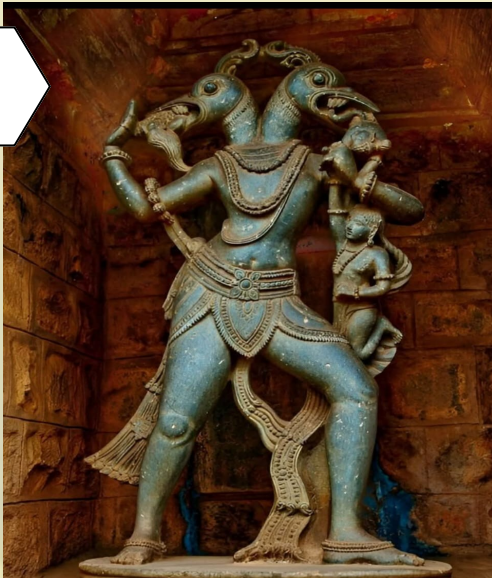
इस तरह का वरदान प्राप्त कर दुर्दान्त दैत्य हिरण्यकश्यपु,
हरि का घोर विरोधी हो गया। किन्तु उसका पुत्र प्रह्लाद
हरि (विष्णु) का अनन्य भक्त था। एक दिन क्रोधित होकर
हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद से पूँछा कहाँ है, तेरा हरि? इस
पर प्रह्लाद ने उत्तर दिया भगवान सर्वत्र हैं, यहाँ तक कि
इस स्तम्भ में भी। इतना सुनते ही हिरण्यकश्यपु ने अस्ति
से स्तम्भ पर प्रहार किया, जिसमें से भगवान विष्णु,
नृसिंह रूप में दहाड़ते हुए विचित्ररूप में प्रकट हुए।

विष्णुपुराण में नृसिंह अवतार का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है कि हरि ने संकषर्ण के अंश से नरसिंह रूप धारण किया।⁵ नरसिंह अवतार की कथा अनेक पुराणों में मिलती है। भागवत पुराण से ज्ञात होता है हिरण्यकश्यपु ने ब्रह्मा से यह वरदान माँगा था कि वह किसी प्राणी से, आकाश, पृथ्वी आदि कहीं भी, किसी शस्त्र से, दिन अथवा रात में न मारा जाय।⁶

1



2



3



4



वह रूप न पूर्णतः सिंह का था और न मनुष्य का ही।⁷ इस नरसिंह रूप में उन्होंने दैत्य को अपनी जंघा पर रख अपने नाखूनों से उसका उदर विदीर्ण कर प्राणान्त कर दिया। तत्पश्चात् प्रह्लाद को वरदान देकर अन्तर्ध्यान हो गए। दक्षिण भारतीय आगम ग्रन्थों में हिरण्यकश्यपु-बध कथानक विस्तारित हुआ है।

इन ग्रन्थों में विवर्त है कि हिरण्यकश्यपु का बध करने के बाद नरसिंह की रक्त पिपाशा इतनी बढ़ गई कि वे सम्पूर्ण जगत (देव-दानव) का रक्तपान करने हेतु चल पड़े, ऐसी स्थिति में देवताओं ने भगवान शिव से अपनी रक्षा करने हेतु प्रार्थना किया। तब शिव ने शरभेश रूप धारण कर नरसिंह को फाड़ डाला और उनकी खाल को अपने शरीर पर धारण कर लिया तथा उनके मस्तक को गले में पहन लिया। कामिकागम के अनुसार शरभ प्रतिमा में कमर के ऊपर का भाग मानव जैसा, मस्तक भाग सिंह के समान तथा आठ पैर, दो पंख और दो निकले हुए दाँत दिखाने चाहिए। बैखानस आगम⁸ के अनुसार नृसिंह चार भुजा वाले बताये गये हैं, जिसमें से पीछे के दो हाथों में शंख, चक्र धारण किये हुए तथा अन्य दो हाथ घुटनों तक फैले हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा धेनुपुरीश्वर (शरभेश्वर शिवम् मन्दिर), मडम्बक्कम, चेन्नई में मिलती है। (देखिए चित्र 1) श्री तत्त्वनिधि में शरभेश के बत्तीस हाथों का वर्णन किया गया है, जो आयुधों से युक्त होता है। उत्तरकर्णागम में इस प्रतिमा की बड़ी प्रशंसा की गयी है। बनर्जी महोदय ने दारासुरम् के मन्दिर में स्थित शिव की शरभेश प्रतिमा का उल्लेख किया है, जिसमें शरभेश के द्वारा नृसिंह को फाड़ने का दृश्य प्रदर्शित किया गया है।⁹ तंजोर जिले के त्रिभुवन के शिवमन्दिर में स्थित ताम्र निर्मित शरभेश प्रतिमा द्रष्टव्य है।

नैगम ग्रन्थों की अपेक्षा आगम ग्रन्थों में हिरण्यकश्यपु-बध कथानक और आगे बढ़ता है, जिसमें वर्णित है कि नरसिंह का बध करने के पश्चात् नरसिंह के क्रोध के अनुरूप शरभेश का क्रोध भी शान्त नहीं हुआ और वह सम्पूर्ण जगत के सभी

जीवों का रक्तपान करने हेतु निकल पड़े, ऐसी स्थिति में देवताओं ने क्षीरसागर में शयन कर रहे भगवान शेषशायी विष्णु से अपनी रक्षा करने हेतु प्रार्थना किया। तब भगवान विष्णु ने गण्डभेरुण्ड नामक शक्तिशाली मानव पक्षी का रूप धारण कर शरभेश का क्रोध शान्त किया और शरभेश को अपनी चोंच में दबा कर आकाश में उड़ गये। यह भी कथानक मिलता है कि गण्डभेरुण्ड और शरभ के बीच भयानक युद्ध हुआ, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भय फैल गया। अन्त में आदिशक्ति प्रत्यंगिरा रूप ग्रहण करके उनके युद्ध को रोका। ध्यातव्य हो कि प्रत्यंगिरा एक शक्तिशाली हिन्दू देवी हैं, जिन्हें भगवान शिव ने हिरण्यकश्यपु के बध के बाद उग्र नरसिंह के क्रोध को शान्त करने के लिए प्रकट किया था। इस देवी का सिर सिंह का और शरीर स्त्री का होता है (नारसिंही), जो पुरुषत्व और स्त्रीत्व (शिव-शक्ति) के सन्तुलन को दर्शाता है। यह देवी शत्रुओं, काले जादू और नकारात्मक शक्तियों से रक्षा करने वाली, अथर्ववेद की अधिष्ठात्री, उग्र और परम रक्षक मानी जाती हैं, जिन्हें अथर्वन, भद्रकाली, निकुम्भला भी कहते हैं।

गण्डभेरुण्ड दो मुखी पौराणिक दैवीय पक्षी है, जिसका उल्लेख सनातन धर्म में पाया जाता है। गण्डभेरुण्ड की प्रतिमाएं कर्नाटक के विभिन्न मन्दिरों और संग्रहालयों में देखी जा सकती हैं। भारतीय शिल्पकला में गण्डभेरुण्ड को कभी-कभी उसका पूरा शरीर मनुष्य का तथा शिर दो मुखी गरुड़ पक्षी के सदृश्य होता है, जो अपने चोंचों में कभी मानवाकृति तथा कभी हाथी अथवा सिंह दबोचे हुए अंकित किये गये हैं।

इस प्रकार की सबसे प्राचीन प्रतिमा कर्नाटक के शिमोगा जिले में शिकरीपुर नगर के बल्लीगेव नामक स्थान में चालुक्य कालीन (1047 ई.) श्री बरुण्डेश्वर शिवमन्दिर में देखी जा सकती है (देखिए चित्र 2)।

कभी-कभी इसका अंकन षडभुजी मनुष्य के रूप में किया गया है, जिसमें मुख्य मुख मानव का तथा उसके अगल-बगल पक्षी के मुखों को दिखाया जाता है। वे दो हाथों से शरभ को अपने कन्धे पर लिए हुए उकड़े गये हैं। उनके अन्य हाथों में विभिन्न प्रकार के आयुध प्रदर्शित होते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा महाराष्ट्र में अम्बाजोगई के बाराखम्बी मन्दिर में प्राप्त होती है। (देखिए चित्र 3)। चेन्ना. केशव मन्दिर, बेलूर (कर्नाटक) में भी गण्डभेरुण्ड को एक जटिल नक्काशीदार मूर्तिकला के रूप में दर्शाया गया है। प्रायः इसका अंकन शिल्प एवं चित्रों में दो मुखी विशाल पक्षी के रूप में भी मिलता है, जहाँ वह अपने चोंचों में सिंह और पंजों में हाथियों को पकड़े हुए दिखाये गये हैं। ऐसा ही एक अंकन रामेश्वरम मन्दिर, केलाडी, जिला सिमोगा, कर्नाटक में मिलता है। (देखिए चित्र 4)

विजय नगर साम्राज्य के प्रारम्भिक सिक्कों में इसकी नक्काशी मिलती है। दक्षिण के कई राज्यों यथा- विजय नगर, मैसूर, चालुक्य और कदम्बों ने इस प्रतीक का प्रयोग राज्य चिह्न के रूप में किया था। मैसूर पैलेस में इसे आज भी देखा जा सकता है। आज भी कर्नाटक के राज्य चिह्न के रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार दक्षिण भारत के अनेक शैवमन्दिरों की मूर्तियों एवं चित्रों में इसका अंकन प्रायः मिलता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. महाभारत, 12/349/37; वही, 12/ 389/77-9; वही, 12/369/104।
2. वायु पुराण, 98/71।
3. भागवत पुराण, 1/3/ 6-22।
4. व्रजभूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा-विज्ञान एवं मूर्ति-कला, पृ. 37।
5. हरिः संकर्षणांशेन नरसिंहवपुर्धरः।

-विष्णु धर्मोत्तर पुराण, 78/7।

6. यदि दास्यस्यमितान्वरान् मे वरदोत्तम।

भूतेभ्यस्त्वद्धिसृष्टेभ्यो मृत्युर्माभूममप्रभो ॥
नान्तर्बहिदिवा नक्तमन्यस्मादपिचायुधैः।
न भमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्नमृगैरपि ॥

..... ।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे एकपत्यंच देहिनाम् ॥

- श्रीमद्भागवत, 7/3/35-37।

7. मीमांसमानस्यसमुत्थितोऽग्रतो

नृसिंहरूप स्तदलंभयानवान्।

प्रतप्त चामीकरचण्डनोचनं

स्फुरत्सटाकेसरजम्भिताननम् ॥

करालदंष्ट्रंकरवालचंचल-

क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ॥

स्तब्धोर्ध्वकर्णगिरिकन्दराद्भुत,

व्यातास्यनासंहनुभेदभीषणम् ॥

दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर

ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम्।

चन्द्राशुगोरेश्छुरितंतनूरहै-

विष्वग्भुजानीशतं नखायुधम् ॥

- श्रीमद्भागवत, 7/8/20-22।

8. वैखानस आगम, 42।

9. The development of Hindu Iconography, p. 788, xxxiv, Fig. 2.

डोकरा कला: परंपरा, प्रौद्योगिकी और सांस्कृतिक अर्थवत्ता का एक अंतर्विषयी विश्लेषण

डॉ विनीता मिश्रा
असिस्टेंट प्रोफेसर
मध्य/ आधुनिक कालीन इतिहास विभाग
एस.एस.खन्ना महिला महाविद्यालय,
प्रयागराज

डोकरा कला भारतीय उपमहाद्वीप की एक प्राचीन धातु शिल्प परंपरा है, जो 'लॉस्ट वैक्स तकनीक' पर आधारित है। यह कला न केवल शिल्प-कौशल का परिचायक है, बल्कि आदिवासी समुदायों की सांस्कृतिक स्मृति, सामाजिक संगठन तथा पारंपरिक ज्ञान प्रणाली का भी जीवंत प्रतिनिधित्व करती है। इसे केवल एक कलात्मक विधा के रूप में देखना इसकी जटिलता को सीमित करना होगा; वस्तुतः यह एक ऐसी जीवित परंपरा है, जिसमें इतिहास, समाज और तकनीक का गहन अंतर्संबंध निहित है।

भारतीय लोक-शिल्प परंपराएँ सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक निरंतरता की मूर्त अभिव्यक्तियाँ होती हैं। डोकरा कला, जिसे विभिन्न क्षेत्रों में "घड़वा कला" के नाम से भी जाना जाता है, उन समुदायों के जीवन-संसार से गहराई से जुड़ी है, जिनके लिए शिल्प केवल आजीविका का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पहचान और ज्ञान के अंतरण का माध्यम भी है। इस दृष्टि से, इसे एक "living tradition" के रूप में समझना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, जो समय के साथ परिवर्तित होते हुए भी अपनी मूल आत्मा को बनाए रखती है।

डोकरा कला की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी दीर्घकालिक ऐतिहासिक निरंतरता है। यह

परंपरा विभिन्न सामाजिक और भौगोलिक परिवर्तनों के बावजूद अपने मूल तकनीकी स्वरूप को संरक्षित रखे हुए है। इसका विकास मुख्यतः उन क्षेत्रों में हुआ जहाँ प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता और सामुदायिक जीवन-प्रणाली ने इसे संरक्षित करने में सहायक भूमिका निभाई। इस प्रकार, यह कला केवल एक तकनीकी प्रक्रिया नहीं, बल्कि पर्यावरण, समाज और संस्कृति के अंतःसंबंधों का प्रतिफल है।

इस शिल्प की निर्माण प्रक्रिया 'लॉस्ट वैक्स' तकनीक पर आधारित है, जो अत्यंत सूक्ष्म और बहु-स्तरीय होती है। इसमें कारीगर अपने अनुभवजन्य ज्ञान का उपयोग करते हैं, जो किसी औपचारिक शिक्षण व्यवस्था के बजाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी अभ्यास और परंपरा के माध्यम से विकसित होता है। यह ज्ञान शरीरगत कौशल (embodied skill) के रूप में अंतर्निहित होता है, जिसके कारण प्रत्येक निर्मित वस्तु अद्वितीय होती है। इस प्रकार, डोकरा कला को एक स्वदेशी ज्ञान प्रणाली (indigenous knowledge system) के रूप में भी देखा जा सकता है, जो अपनी जटिलता और परिष्कार में किसी भी औपचारिक तकनीकी प्रणाली से कम नहीं है। नृवंशशास्त्रीय दृष्टि से डोकरा कला का विशेष महत्व है, क्योंकि यह समुदाय के जीवन, विश्वासों और सामाजिक संबंधों को प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त करती है।

इसमें निर्मित आकृतियाँ—जैसे पशु, मानव और देवी-देवता—सिर्फ सजावटी तत्व नहीं हैं, बल्कि प्रतीकात्मक संप्रेषण के माध्यम हैं, जो उस समाज की विश्वदृष्टि और सांस्कृतिक मान्यताओं को प्रकट करते हैं। यह शिल्प एक प्रकार की दृश्य भाषा (visual language) का निर्माण करता है, जिसके माध्यम से इतिहास और परंपरा का संप्रेषण बिना लिखित शब्दों के संभव होता है।

साथ ही, इसका उत्पादन सामूहिकता पर आधारित होता है, जहाँ परिवार और समुदाय दोनों स्तरों पर श्रम का विभाजन देखने को मिलता है, जिससे यह एक सामाजिक संस्था के रूप में कार्य करता है।

डोकरा कला की रूपात्मक विशेषताएँ इसे विशिष्ट पहचान प्रदान करती हैं। जालीदार संरचनाएँ, सर्पिल रेखाएँ और असममित रूपांकन इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो इसे पारंपरिक शास्त्रीय सौंदर्यबोध से भिन्न एक स्वतंत्र लोक-सौंदर्य प्रदान करती हैं। यहाँ अपूर्णता भी एक सौंदर्य मूल्य के रूप में स्वीकार्य होती है, जो इस कला की प्रामाणिकता को और अधिक सुदृढ़ करती है। इस प्रकार, यह कला "folk aesthetics" का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है, जहाँ सौंदर्य का मापदंड औपचारिक नियमों के बजाय अनुभव और परंपरा से निर्धारित होता है।

समकालीन परिप्रेक्ष्य में डोकरा कला अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है। यह आज भी अनेक समुदायों के लिए आजीविका का महत्वपूर्ण स्रोत है, किंतु आधुनिक बाज़ार व्यवस्था और औद्योगिक उत्पादों के बढ़ते प्रभाव के कारण इसकी पारंपरिक संरचना प्रभावित हो रही है। बाज़ार के विस्तार ने एक ओर इस कला को व्यापक पहचान दिलाई है, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक वस्तुकरण (cultural commodification) की प्रक्रिया को भी जन्म दिया है, जिसमें पारंपरिक प्रतीकों और रूपों को उपभोक्ता की मांग के अनुरूप परिवर्तित किया जाता है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी कला की मूल सांस्कृतिक अर्थवत्ता

कमजोर पड़ जाती है और उसका स्वरूप केवल एक सजावटी वस्तु तक सीमित हो जाता है।

ऐसी स्थिति में डोकरा कला के संरक्षण को केवल स्थिर रूप में संरक्षित करने की प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि एक गतिशील और संवेदनशील प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है। परंपरा और नवाचार के मध्य संतुलन स्थापित करना अत्यंत आवश्यक है, ताकि यह कला बदलते समय के साथ अपनी प्रासंगिकता बनाए रख सके। इसके लिए शिल्पकारों की सक्रिय भागीदारी, उनके ज्ञान का सम्मान और उनके सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण को प्राथमिकता देना अनिवार्य है।

अंततः, डोकरा कला भारतीय लोक-शिल्प परंपरा की एक सशक्त और जीवंत अभिव्यक्ति है, जो तकनीकी दक्षता, सांस्कृतिक अर्थवत्ता और सामाजिक संरचना का अद्वितीय समन्वय प्रस्तुत करती है। यह केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि वर्तमान में सक्रिय एक ऐसी परंपरा है, जो निरंतर परिवर्तन के बीच अपनी पहचान को बनाए रखने का प्रयास कर रही है। अतः इसका अध्ययन और संरक्षण न केवल सांस्कृतिक उत्तरदायित्व है, बल्कि ज्ञान, परंपरा और समाज के सह-अस्तित्व को समझने की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया भी है।



प्रयागराज की हस्त शिल्प परम्परा: मुंज उत्पाद

डॉ. रश्मि सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, को- प्रोजेक्ट कोऑर्डिनेटर, ICSSR से स्वीकृत शोध कार्यक्रम, एस.एस.खन्ना महिला महाविद्यालय, प्रयागराज

प्रयागराज केवल अपने धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परंपराओं के लिए भी जाना जाता है। इन परंपराओं में “मुंज शिल्प” एक अत्यंत महत्वपूर्ण, किंतु अपेक्षाकृत उपेक्षित हस्तशिल्प है। मुंज घास से निर्मित यह शिल्प न केवल स्थानीय कारीगरों की सृजनात्मकता और कौशल का परिचायक है, बल्कि यह क्षेत्र की सांस्कृतिक पहचान का भी अभिन्न अंग है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि इतनी समृद्ध परंपरा होने के बावजूद आज भी आम जनमानस में इस शिल्प के बारे में पर्याप्त जानकारी का अभाव है।

मुंज शिल्प की परंपरा प्रयागराज और उसके आस-पास के क्षेत्रों में प्राचीन काल से चली आ रही है।

ग्रामीण परिवेश में पाई जाने वाली मुंज घास को विभिन्न घरेलू उपयोग की वस्तुओं—जैसे टोकरी, डलिया, चटाई, और सजावटी वस्तुओं—में रूपांतरित किया जाता है। यह शिल्प केवल उपयोगिता तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें सौंदर्यबोध, स्थानीय जीवन शैली और पारंपरिक ज्ञान का



समावेश भी देखने को मिलता है। यह हस्तकला पीढ़ी- दर- पीढ़ी स्थानांतरित होती रही है, जिससे यह एक जीवंत सांस्कृतिक धरोहर के रूप

में स्थापित हुई। वर्तमान समय में, जब पारंपरिक हस्तशिल्प आधुनिकता और बाज़ारवाद के दबाव में धीरे-धीरे विलुप्त होने की कगार पर हैं, तब “वन डिस्ट्रिक्ट वन प्रोडक्ट (ODOP)” जैसी पहल ने इन



शिल्पों को पुनर्जीवित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्रयागराज के मुंज शिल्प का ODOP में चयन होना इस दिशा में एक सराहनीय कदम है। इसके साथ ही, इस शिल्प को भौगोलिक संकेतक (GI Tag) प्राप्त होना इसकी विशिष्टता और सांस्कृतिक महत्ता को औपचारिक मान्यता प्रदान करता है। किंतु विडंबना यह है कि इन उपलब्धियों के बावजूद, स्थानीय स्तर पर भी इस शिल्प के बारे में जागरूकता अत्यंत सीमित है।

लेखिका के व्यक्तिगत अनुभव से यह तथ्य और भी स्पष्ट होता है। जब तक भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (ICSSR) के एक शोध परियोजना के अंतर्गत प्रयागराज की सांस्कृतिक विरासत पर कार्य नहीं किया गया, तब तक मुंज शिल्प के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं थी। इस परियोजना के दौरान नैनी क्षेत्र की यात्रा की गई, जहाँ स्थानीय कारीगरों से संवाद स्थापित करने का अवसर मिला। वहाँ स्थित “महेवा क्राफ्ट विलेज” का अवलोकन करते हुए इस शिल्प की वास्तविक सुंदरता, जटिलता और सांस्कृतिक गहराई को निकट से समझा गया। कारीगरों के कुशल हाथों में साधारण सी दिखने वाली मुंज घास अद्भुत कलाकृतियों में परिवर्तित हो जाती है, जो न केवल उपयोगी होती हैं, बल्कि कलात्मक दृष्टि से भी अत्यंत आकर्षक होती हैं।

इस अनुभव ने यह बोध कराया कि मुंज शिल्प केवल एक आर्थिक गतिविधि नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। ऐसे में, इस शिल्प के संरक्षण और संवर्धन के लिए समाज के प्रत्येक वर्ग, विशेषकर शिक्षकों और विद्यार्थियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। वर्तमान पीढ़ी को इस प्रकार की पारंपरिक कलाओं से जोड़ना आवश्यक है, ताकि वे अपनी सांस्कृतिक जड़ों को समझ सकें और उनके संरक्षण में सक्रिय भूमिका निभा सकें।

आज आवश्यकता इस बात की है कि मुंज शिल्प के प्रति व्यापक स्तर पर जागरूकता अभियान चलाए जाएं। शैक्षणिक संस्थानों में इस विषय को पाठ्यक्रम से जोड़ना, कार्यशालाओं का आयोजन करना, और कारीगरों के साथ संवाद के अवसर प्रदान करना ऐसे कुछ कदम हैं, जो इस दिशा में प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के लेखों का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह न केवल जानकारी का प्रसार करता है, बल्कि लोगों में इस शिल्प के प्रति रुचि और संवेदनशीलता को भी बढ़ाता है।

उसका ,यह हमारी नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को पहचानें ,अंततः सम्मान करें और उसके संरक्षण के लिए प्रयासरत रहें। प्रयागराज का मुंज शिल्प केवल अतीत की धरोहर नहीं अपितु यह हमारे वर्तमान और भविष्य की सांस्कृतिक पहचान का भी एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यदि समय रहते इसके प्रति जागरूकता नहीं बढ़ाई गई तो यह अनमोल परंपरा धीरे-धीरे विलुप्त हो सकती है। अतः आवश्यक है कि हम सभी मिलकर इस दिशा में सार्थक पहल करें ताकि यह शिल्प आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित रूप से पहुंच सके।

(Photo Courtesy :www.dsource.in, www.uptourismpage.in):

मूर्ति-विज्ञान और दक्षिणामूर्ति

डा. मीनाक्षी जोशी 'शांकरी'
संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज, उत्तरप्रदेश

भारतीय ज्ञान परम्परा आध्यात्म की अनुपम ज्ञान-राशि को स्वयं में संजोती रही है। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन के सिद्धान्तों का महातरु हजारों वर्ष पूर्व ज्ञान की उर्वरा-पर सुदृढता से उत्थित हुआ। जरा-मृत्यु रहित नित्य-नूतन अनेक शाखाओं में अनेक उपसनारूप फलों को लिए यह महातरु सारतत्त्व और विचार की परस्पर घनिष्टता के कारण एक ही प्राणरस से सभी का पोषण करता रहा.....। यही प्रतीक है मानव की लक्ष-लक्ष स्वरों एवं लक्ष-लक्ष विश्वासों से युक्त महागान का जिसके आराध्य देवता बर्बरतम से लेकर नामहीन-सीमाहीन निराकार परब्रह्म रूप तक है।

परन्तु ज्ञान-परम्परा का निर्वाह करने हेतु विचारों का सातत्य बना रहे यह अनिवार्य था। इसी ध्येय को दृष्टिगत रखते हुए निराकार पर ब्रह्म की मन्त्रों से स्तुति की गई परन्तु उन्हें साकार रूप प्रदान कर अर्चा भी संस्कृति का अनिवार्य अंग बन गया। परिणामस्वरूप मन्त्रों का अनुगमन करते हुए चित्र तथा मूर्ति अस्तित्व में आए। मन्त्र मूर्ति से अर्चा मूर्ति का निर्माण होता गया जहां **ब्राह्मण मननात् मन्त्र** द्वारा निर्गुण ईश्वर का स्तवन करते

थे वहीं चित्रकार और शिल्पकार **मन्त्रों को चित् की भूमि पर साकार कर अर्चा मूर्ति का निर्माण** करते थे। अमूर्त देवता आकार ग्रहण करने लगते हैं। **मन्त्र चित् सादृश्य होते हैं और चित् मन्त्र सादृश्य।** जो रसास्वादन ऋषि अपनी ध्यान परम्परा में प्राप्त करते थे वही आस्वादन शिल्पकार अपनी कला की साधना में मूर्तिमान विग्रह को आकार देकर प्राप्त करता था।

रसो वै सः की अवधारणा इसी प्रकार मूर्तिमान होती गई । जिसका **साधारणीकरण** वैदिक ऋषियों से लेकर साधारण लोक पर्यन्त तक एक सूत्र में होता चला गया और ईश्वर का साकार रूप समस्त जनमानस द्वारा सात्विकभावों से सिक्त हो एक समान आस्वाद्यमान हो गया। उपनिषद्गीकहतेहैं-

सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापारउपासनम्।

उपासकानांकार्यार्थेब्रह्मणोरूपकल्पना॥

'मूर्ति' शब्द है ही बड़ा अद्भुत। "मूर्ति" शब्द मूर्त शब्द से बनता है, जो मूर्च्छ में 'क्त' प्रत्यय लगा कर बनता है। इसका अर्थ होता है जो गोचर हो। अर्थात् - जो भावना/विचार/चिन्तन गोचर (इन्द्रियों से अनुभूत) हो वह मूर्त कहलाता है। और जो आकार/आकृति/रूप आदि प्रकट होता है, वह मूर्ति कहलाती है। मूर्च्छनात् मूर्तिः। चिति क्रम से जब एक ही प्रदेश में अनेक बल का चयन होता है, तो उन सबका मूर्च्छनात् जो पिण्ड बनता है, उसे मूर्ति कहते हैं।

अतः जो भी भाव गोचर हुआ, पदार्थ रूप में प्रकट हुआ वही मूर्ति कहलाती है। इसकी कला भारत में मानव के इतिहास के जितनी ही प्राचीन है। उसीप्रकार चित्र भी – रूपभेदाःप्रमाणानिभावलावण्ययोजनम्। सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रषडंगम्॥

(वात्स्यायन)

इस प्रकार ब्रह्म की अनिर्वाचनीयता या अवाङ्मनसगोचरता को भी कलाकार ने मूर्तिमान कर दिया। धीरे-धीरे समस्त देवता आकार ग्रहण करने लगे। जिनमें दक्षिणामूर्तिशिवकीसंकल्पनाअपूर्वथी। "शिवो भूत्वाशिवं यजेत्" की अवधारणाने ज्ञानकी अवधारणाको शिवमें ही मूर्त कर दिया। जीव को ब्रह्म तक की यात्रा पूर्ण करने हेतु एक योग्य मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है जो उसके साधनामार्ग की बाधाओं को ज्ञान द्वारा सुगम बना दे। वेदान्त में श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ इस योग्यता को गुरु को परमशिव के रूप में निरूपित कर जगद्गुरु रूप में शिवतत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है। योग, वैराग्य, साधन, ज्ञान और उपलब्धि आदि का पुञ्जिभूत-तत्त्व शिव में प्रकट होता है इसी हेतु गुरूपद पर आदर्शरूप से शिव ही अभिषिक्त होते हैं। इसलिए शिवगुरु की उपासना "दक्षिणामूर्ति" के रूप में की जाती है।

"दक्षिणामूर्ति" शब्द का विग्रह अनेक विद्वानों ने अनेक पद्धतियों से किया। जिसका तात्पर्य है कि-"दक्षिणाश्च असौ

अमूर्तिश्च
सः



इति

"दक्षिणामूर्ति" यहां पर "दक्षिण" तथा "अमूर्ति" शब्द विशेषण होंगे जिससे कर्मधारय समास होगा अर्थात् "दक्षिण" शब्द का अर्थ होता है - निष्कपट, निष्पक्ष, योग्य, चतुर, कुशल इत्यादि तथा अमूर्ति का अर्थ होता है- आकारहीन, रूपहीन। अर्थात् जो ज्ञान देने में सक्षम हों और आकारहीन हो (अपनी विराटता के कारण) वही दक्षिणावर्त है।

शाङ्कर सम्प्रदाय में "दक्षिण शेमुषी प्रोक्ता" इस व्युत्पत्ति के अनुसार दक्षिणा बुद्धि का पर्याय माना जाता है। अर्थात् "ज्ञानमूर्ति के रूप में शिव की कल्पना की गई है जो "अज्ञान का अच्छेदन करने में सक्षम हो।" महान द्रष्टा रमण महर्षि ने पत्र ८९ में कहा है: दक्षिणा का एक अर्थ कुशल है; एक अन्य अर्थ है 'शरीर के दाहिनी ओर हृदय में'; अमूर्ति अर्थात् निराकार'। संस्कृत में "दक्षिणामूर्ति स्तोत्र" का अर्थ है "दाहिनी ओर स्थित निराकारता"।



इस प्रकार चाहे "दक्षिण दिशा" अर्थ ले जो समस्त अशुभता की द्योतक है उसी की ओर मुख किए बिना विकार के (निर्विकार) समस्त शुभता को धारण किए (अष्टमूर्ति) जो परम शिव एक मात्र ज्ञान प्रदान करने में समर्थ है (परमयोगी निस्पृह) ही दक्षिणामूर्ति स्तोत्र के ध्यान में किया है।

दक्षिणामूर्ति के विग्रह को देखें तो शिव तरुण योगी के रूप में वटवृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में विराजित है। ज्ञानभास्वर स्वरूप लिए तारुण्य में भी गाम्भीर्य प्रस्फुटित होता है। उनके परितः वृद्ध ऋषिगण प्रणिपात होकर ज्ञानवर्षा से स्नात दिखाई पड़ते हैं यद्यपि गुरु मौन है परन्तु शिष्य संशयविहीन है।

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥

(श्रीदक्षिणामूर्ति स्तोत्रम्)

तथा

स्फटिक रजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला ममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे।

दधतमुरगकच्छ्र्यं चन्द्रचूडं त्रिणेत्रं, विधृतविविधभूषं ॥३॥

(श्रीदक्षिणामूर्तिउपनिषद्)

श्रीललिता सहस्रनाम और श्री भवानी सहस्र नाम में श्री देवी को दक्षिणामूर्तिरूपिणी कहा गया है। तंत्र शास्त्र के अनेक संप्रदायों में से एक संप्रदाय "दक्षिणामूर्ति" है जो समय मत के उपदेशक हैं। श्री देवी के अनन्य साधक होते हुये वह गुरु माता से अभेद हैं। श्रीदक्षिणामूर्ति देव सभी विद्या एवं ज्ञान को देने वाले देवता है और इनका आराधक सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान में निष्णात हो जाता है।

यूनेस्को की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत सूची में अपनी दीपावली

Deepavali was inscribed on the UNESCO Representative List of the Intangible Cultural Heritage of Humanity in December 2025 during the 20th Committee session in New Delhi, becoming India's 16th element. It recognizes the festival of lights as a living heritage symbolizing the victory of light over darkness, promoting social cohesion

दीपावली को दिसंबर 2025 में नई दिल्ली में आयोजित यूनेस्को की 20वीं समिति के सत्र के दौरान यूनेस्को की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की प्रतिनिधि सूची में शामिल किया गया, जिससे यह भारत का 16वां तत्व बन गया। यह सूची प्रकाश के इस त्योहार को एक जीवंत विरासत के रूप में मान्यता देती है, जो अंधकार पर प्रकाश की विजय का प्रतीक है और सामाजिक एकता को बढ़ावा देती है।

जोधपुरा उत्खनन: एक पुनरालोकन

डॉ. विवेक शुक्ल, (पुरान्वेषण एवं उत्खनन अधिकारी), पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान, जयपुर

जोधपुरा, जो राजस्थान के कोटपुतली-बहरोड़ जिले के पावटा तहसील में साबी नदीके तट के निकट स्थित है। यह पुरातात्विक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण स्थल है। यह स्थल "गणेश्वर-जोधपुरा सांस्कृतिक कॉम्प्लेक्स" का हिस्सा माना जाता है, जिसमें कई कालखंडों का क्रमशः विकास देखा जाता है।

उत्खनन इतिहास एवं पद्धति

राजस्थान के पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग(Archaeology & Museum Department) ने जोधपुरा में पहला प्रमुख उत्खननवर्ष 1972-73 में आर.सी.अग्रवाल एवंविजय कुमार के निर्देशन में किया था। द्वितीय सत्र में उत्खनन का कार्य 1974-75 में कराया गया था।

2.इतिहास काल (Historic Period)

उन परतों में शुंग-कुषाण अवधि तक की संस्कृति देखी गई है। वहाँ लोहेके औजार जैसे एरो-हेड्स (ततवूमिके), कीलें भी मिले हैं। भिन्न प्रकार की मृदभांड परम्परा शेल की चूडियां, पत्थर के मोती आदि प्राप्त हुए हैं। कुछ प्याले (इवूसे) ट्रिरत्न (जतपतंजदं) और स्वस्तिक जैसे चिन्हों से अंकित मिले। लौह युगीन वास्तुकला का भी संकेत मिला है, जैसे

मिट्टी की दीवारें और बने हुए घरों के अवशेष।

3.धातु प्रौद्योगिकी:

उत्खनन के दौरान तांबे (कॉपर) और धातु-कर्म संबंधी खबरें भी सामने आईं, जो क्षेत्र में धातु-उद्योग और व्यापार की संभावना को दर्शाती हैं। संस्कृति-क्रम की अंतःक्रियाजोधपुरा उत्खनन से यह स्पष्ट हुआ है कि यह क्षेत्र प्रोटो-इतिहास से लेकर ऐतिहासिक काल तक निरंतर आबाद रहा।

निष्कर्ष:

जोधपुरा (Jodhpura) उत्खनन वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह स्थल एक बहु-कालीन सांस्कृतिक विकास की झलक देता है। आद्य-इतिहास से लेकर ऐतिहासिक काल तक यहाँ प्राप्त धातु-उपकरण, मृदभांड, और वास्तु अवशेष न केवल उस युग की दैनिक जीवन शैली का संकेत देते हैं, बल्कि क्षेत्रीय संपर्कों, आर्थिक जीवन और धार्मिक प्रतीकों की भी कहानी बयां करते हैं। भविष्य में आधुनिक पुरातात्विक विधियों के साथ नवीन उत्खनन और संरक्षण कार्य इस स्थल के और रहस्यों को उजागर कर सकते हैं और राजस्थान की सांस्कृतिक विरासत में एक समृद्ध अध्याय जोड़ सकते हैं।

जोधपुरा उत्खनन: एक पुनरलोकन



चित्र-4 जोधपुरा पुरास्थलसे प्राप्त लौह अवषेष



चित्र-3
जोधपुरा पुरास्थलसे प्राप्त चित्रित धूसर
मृदभाण्ड



चित्र-2
जोधपुरा पुरास्थलका दक्षिणी भाग



चित्र-1
जोधपुरा पुरा.
स्थल

जिस शहर ने कभी 'खींचों न कमानों को न तलवार निकालो, जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो' की नसीहत दी हो या फिर 'अबे, सुन बे, गुलाब' कहकर व्यवस्था को ललकार देने का जज्बा दिया हो, उस शहर की पत्रकारिता की बात करना अपने आप में जीने की वजह को बार-बार पा लेने जैसा है। साहित्य, समाज, संस्कृति, सरोकार और संघर्ष, सबकुछ एक साथ जी लेने की ताकत रखने वाली प्रयाग की पत्रकारिता ने हमारे समक्ष ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए कि हम हमेशा के लिए उसके ऋणी हो गए। यह बहुत कम देखने को मिलता है कि किसी शहर की पत्रकारिता उस शहर की बनावट और मंजावट में महत्वपूर्ण भूमिका निभाए। प्रयाग की पत्रकारिता अपने शहर की तासीर और फितरत के संग-संग चली और पूरे देश को जन-आवाज को बुलंद करने का सलीका सिखा गई। सच कहें तो प्रयाग की पत्रकारिता ने सबको अपने भीतर समेट लेने का प्रयास किया और पत्रकारिता के उद्देश्यों को व्यापकता देने का दायित्व निभाया।

प्रयाग की पत्रकारिता के पुराने पृष्ठों को पलटें तो संघर्ष और सृजन के कई-कई आयाम हमारे सामने होते हैं। आजादी की लड़ाई है तो निज भाषा के गौरव को स्थापित करने का अभियान भी गंगा-जमुनी संस्कृति को बढ़ावा देने का उद्देश्य है तो ला. गों को समाज और साहित्य से

जोड़कर बेहतर बनाने का दायित्व भी। सच कहा जाए तो प्रयाग की पत्रकारिता वह उदाहरण प्रस्तुत करती है, जिसके आधार पर हम अपने पुरनियों के सपनों का समाज बना सकते हैं। अब देखिए न, अखबार उर्दू का। उम्र ढाई साल। प्रकाशित अंकों की संख्या पचहत्तर। कुल सम्पादकों की संख्या आठ। सभी सम्पादकों को कुल मिलाकर सजा हुई एक सौ पचीस सालों की। साथ में देश निकाला और काला पानी भी।.... पत्रकारिता के अब तक के इतिहास में शायद ही किसी अखबार को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की इतनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी हो। रोमांच यह कि एक सम्पादक को हुकूमत गिरफ्तार कर सजा सुनाती थी कि तुरन्त अखबार में नये संपादक के लिए विज्ञापन छाप दिया जाता कि "सम्पादक चाहिये वेतन-दो सू खी रोटी, एक गिलास पानी और हर सम्पादकीय पर बन्दूक की गोली या बीस साल की सजा।" विज्ञापन छपने की देर रहती कि पत्रकारिता पर कुर्बान हो जाने वाला एक और सम्पादक तैयार हो जाता। यह कहानी है प्रयाग से छपने वाले उर्दू के अखबार 'स्वराज' की, जिसका ध्येय वाक्य था- 'हिन्दुस्तान के हम हैं, हिन्दुस्तान हमारा है।' 1907 से यह अखबार निकलना शुरू हुआ और 1908 से ही इस पर अंग्रेजी हुकूमत के जुल्म-जोर की सत्यकथा प्रारम्भ हो गयी। शांति नारायण भटनागर, रामदास, होतीलाल

वर्मा, बाबू हरिदास, मुंशी राम सेवक, नंद गोपाल चोपड़ा, लद्दाराम कपूर व अमीर चंद बंबवाल ने इसके संपादक के रूप में जो प्रतिमान स्थापित किये, उन्हें अब तक छू सकने की हिम्मत भी कोई नहीं जुटा पाया है।

वास्तव में प्रयाग में पत्रकारिता के प्रारम्भिक दिन रोमांच से भरे हुए थे। एक तरफ देश की स्वतंत्रता की लड़ाई का रोमांच था तो दूसरी तरफ अपनी भाषा को संस्कार देने और उसका प्रचार-प्रसार करने का संकल्प। यह वह समय था जब पूरे देश में हिन्दी सहित लगभग सभी भाषाओं की पत्रकारिता आकार ले रही थी और साथ ही साथ आने वाले दिनों की पत्रकारिता के लिए सांचे तैयार कर रही थी। वे दिन आजादी के लिए अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ संघर्ष करने के दिन थे। यदि अंग्रेजों के तरह-तरह के कुचक्रों से जनता को अगाह करना था तो साथ ही उन्हें उनके अधिकारों के प्रति जागरूक भी बनाना था। अंग्रेजी हुकूमत के गलत निर्णयों व आदेशों के खिलाफ यदि आवाज बुलंद करनी थी तो उन्हें लताड़ भी पिलानी थी। प्रयाग की पत्रकारिता ने इन सामायिक दायित्वों को बखूबी तो निभाया ही साथ ही हिन्दी भाषा को नये-नये आयाम देने का भी काम किया। हिन्दी की अलख जगाने में 'हिन्दी प्रदीप' ने 1877 में जो आवाज बुलंद की, वह भुलाई नहीं जा सकती।

प्रयाग की पत्रकारिता ने खुद को बचाए रखने के संघर्ष भी किये। बात 'हिन्दी प्रदीप' की हो, या लीडर की या फिर ऐसे ही कई अन्य महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं की। कभी अंग्रेजी हुकूमत द्वारा लगाये गये जुर्माने को न भर पाने का संकट आया तो कभी पाठकों द्वारा शुल्क न भेजने का। कभी प्रिंटिंग टेक्नोलॉजी को अपडेट करने का संकट उत्पन्न हो गया तो कभी पत्रकारों-सम्पादकों के गिरफ्तार हो जाने का। रोमांचक तथ्य यह कि हर संकट से जूझने का जुनून रखने वाले लोगों ने हार नहीं मानी। वे जूझते रहे और आगे बढ़ते रहे। वे कभी अंग्रेजों की करनी पर व्यंग्यात्मक कटाक्ष मारते तो कभी चंदा न देने वाले पाठकों को लताड़ पिलाते। हिन्दी प्रदीप में शुल्क न देने वालों को सितम्बर 1892 के अंक में कुछ इस तरह लताड़ दी गई—'हम उन महाशयों को फिर भी धन्यवाद देते हैं और निसन्देह हम उनके एहसान मंद हैं जो करावलम्ब की भांति दो ही एक बार में मांगने पर शुल्क भेज देते हैं पर उन चाण्डाल महापतियों को कौन सी उपाधि दें जो बरसों तक बराबर समाचारपत्र गटकते गये, मांगते-मांगते हैरान हो गये, मूल्य न पाया, सांगता की भांति दो आने और लगाये बी.पी. भेजा सो भी लौट आया तब उनके नाम सियापा गये चुप हो बैठे रहें।' इस शहर से 'अभ्युदय' जैसे साप्ताहिक (बाद में दैनिक) भी प्रकाशित हुए, जिसमें यह अपील छापी जाती थी कि—'कृपा कर पढ़ने के बाद अभ्युदय किसी किसान भाई को दे दीजिये।'

राष्ट्रीय मुद्दों पर निर्भीक और दो टूक टिप्पणी पढ़ने के लिए प्रयाग के पत्र-पत्रिकाओं की बहुत डिमांड रहती थी। अंग्रेज हुकूमरान भी इन पर नजर रखा करते थे। सन् 1927 में अखबारों के सम्बन्ध में जारी गोपनीय रिपोर्ट में सरकार की तरफ से लिखा गया — 'युक्त प्रांत के पढ़े-लिखे भारतीयों को राजनीतिक मामलों की खबरें 'लीडर' से मिला करती हैं और इसी के आधार पर वे अपनी सम्मति निश्चित करते हैं। प्रांतीय कौंसिल में मि० चिन्तामणि ने जो नेशनलिस्ट पार्टी कायम की है, उसके संगठन में उन्हें 'लीडर' से भारी मदद मिली है। यह पत्र प्रान्तीय सरकार के विरुद्ध निरंतर प्रचार करता रहता है और सरकार के पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वह पत्र के आक्षेपों का जवाब दे सके।' सच तो यह है कि प्रयाग की पत्रकारिता ने अपने समय में उस मंजावट और सामर्थ्य का विकास किया, जिसकी दरकार हर समय की पत्रकारिता को हुआ करती है।

प्रयाग की हिन्दी पत्रकारिता प्रारम्भ से ही रोचकता व रोमांच से भरी रही है। चाहे वह 'हिन्दी प्रदीप' का समय रहा हो या फिर 'सरस्वती', 'अभ्युदय' और 'चांद' का। पत्रकारों, सम्पादकों और साहित्यकारों के पास एक निश्चित 'मिशन' और 'विजन' था। वे जानते थे कि जन-सरोकारों और जन-आवाजों को कैसे बुलंद किया जाना है। अपने आप में पत्रकारिता के स्कूल कहे जाने वाले इन लोगों ने अपने पीछे आ रही पीढ़ियों को ऐसी सशक्त स्मृति परम्पराएं दी हैं कि आज पत्रकारिता उन्हीं के सहारे अपने आप को बचाकर-बनाकर-मांजकर आगे बढ़ रही है। यह

अनायास नहीं है कि प्रयाग में आज हिन्दी पढ़ी के सभी प्रमुख हिन्दी समाचार पत्र प्रकाशित हो रहे हैं। दैनिक जागरण, हिन्दुस्तान, अमर उजाला, आज, अमृत प्रभात, युनाइटेड भारत जैसे प्रमुख समाचार पत्र अगर यहीं छप रहे हैं तो कई अन्य प्रमुख राष्ट्रीय व प्रादेशिक समाचार पत्रों के यहां ब्यूरो कार्यालय हैं और वे बनारस या लखनऊ से छपकर यहां पहुंच रहे हैं। स्थानीय समाचार पत्र भी हैं, लेकिन उनकी लोकप्रियता व पहुंच बहुत कम है। यह सही है कि आने वाला समय वेब पत्रकारिता का है कि और यही मीडिया प्रतिरूप लिखने पढ़ने की ढेर सारी संभावनाएं प्रस्तुत कर रहा है। अखबारों की इंटरनेट पर उपस्थिति इसको नया आयाम दे रही है। अखबार और अखबार से जुड़े लोग अब सोशल मीडिया के जरिए अधिक से अधिक लोगों को खुद के उपक्रम से जोड़ रहे हैं। प्रयाग भी इस उपक्रम से अछूता नहीं है। बड़ी बात यह कि आज भी प्रयाग की पत्रकारिता ने अपने जन सरोकारी रूप को तो बचाए रखा ही है साथ ही भाषा व साहित्य को लेकर विरासत में मिली स्मृति परम्पराओं को भी सहेज कर आगे बढ़ रही है। यही वजह है कि आने वाले समय में हम प्रयाग की पत्रकारिता से बेहतर प्रस्तुति व प्रयोगों की उम्मीद कर सकते हैं। चलते-चलते एक जरूरी बात यह कि प्रयाग की पत्रकारिता गाढ़ समय में जीने की राह सुझाती है और जीने का मकसद भी देती है।

'भावप्रकाश निघण्टु' में जल का महत्व

आशुतोष द्विवेदी, पुत्र श्री रामजी द्विवेदी,
शोध छात्र, प्राचीन इतिहास विभाग,
एस.एस. खन्ना महिला महाविद्यालय,
प्रयागराज



“पानीयं श्रम नाशनं क्लं हरं मूर्च्छापिपासापहतं । तन्द्राच्छर्दि विबन्धहृदबलकरं निद्राहरं तर्पणम् ।।
हृद्यगुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं । शीतलं लघ्वाच्छं रसकारणं निगदितं पियूषवज्जीवनम् ।।”

— भावप्रकाश, वारिवर्ग, श्लोक1 से 2

जल समस्त प्राणियों का प्राण है, सम्पूर्ण जगत का तन्मय है। “क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंच तत्व मिल बन यह अधम शरीरा” । जल और नदियों के प्रति दैवी भाव भारतीय ज्ञान परम्परा में विद्यमान है। शुद्ध जलीय दृष्टि में जल अमृत स्वस्थ जीवन का आधार है। आहार के सन्दर्भ में जल के प्रयोग के भारतीय विधान वैज्ञानिक स्तर पर खरे उतरते हैं। भारतीय परम्परा में प्राचीन काल से ही जल औषधि के रूप में रोगनिहन्ता माने गए। निर्झर, कूप, नद, हिम, वृष्टि, तलैया, भूमि से निर्गत जल के अतिरिक्त तालाब, वापी जैसे निर्मित जलस्रोतों की परम्परा भी रही है। कोशग्रन्थों में जल के विविध प्रकारों का गहन वर्णन है। कृषिपराशर, वृहत्संहिता तथा आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थ जल तत्व पर गम्भीर चिन्तना प्रस्तुत करतें हैं। आयुर्वेद में स्वच्छ जल को महत्व दिया जाता रहा है। विभिन्न जल स्रोतों को सदानीरा बनाए रखने के प्रयास करने होंगे। पीने योग्य जल को स्वच्छ बनाने की घरेलू विधि को अपनाया जाना चाहिए। आहार के सन्दर्भ में जल सम्बन्धी पुराने ज्ञान को दैनिक दिनचर्या में अपनाना होगा क्योंकि स्वस्थ जीवन की कुंजी स्वच्छ जल है।



जल को काढ़े की तरह अधिक मात्रा में पकाने/धूप में रख देने/सोना चांदी लोहा पत्थर अथवा बालू को खूब गरम करके जल में बुझाने और मोटे वस्त्र से छान लेने से दूषित जल पीने योग्य हो जाता है।

—वारिवर्ग, श्लोक 82—85